सिएटल, यू.एस.ए.
३१ अगस्त, २००४

संदेश संख्या – ७२

अद्वैतामृतवर्षिणी

(संदेश ७१ से आगे)

इस संदेश में २४ श्लोकों द्वारा संदेश ७१ में सूचीबद्ध प्रक्रिया संख्या ५ से ७ को प्रस्तुत किया गया है। अध्याय एवं श्लोक संख्या को पूर्ववत् इंगित किया गया है।

५. पूर्ण क्रिया

४.१८ जब व्यक्ति अहंकार की गतिविधि को व्यर्थ (अकर्म) रूप में देखता है तथा ''अहंभाव'' (जो अपने पूर्वाग्रहों, महत्वाकांक्षाओं एवं आडम्बर से युक्त होता है) की निष्क्रियता को ही उचित कर्म रूप में देखता है, तब वह बुद्धिमान होता है और पूर्ण चेतना से युक्त होता है। तभी बिना किसी विखण्डन एवं विरोध के पूर्ण क्रिया सम्भव होती है ।

४.२१ बिना चाहत एवं चिंता के तथा अर्जन के सभी प्रयोजनों को त्याग कर जो केवल शरीर द्वारा कर्म करता है, वह कोई पाप नहीं करता ।

४.२२ वह, जो सहज प्राप्त से संतु रहनेवाला है, प्रत्येक स्तर पर द्वन्द्व से परे है, ईर्ष्या से मुक्त है, सफलता या असफलता में समान रहता है, ऐसा व्यक्ति अपने कर्मों के द्वारा किसी बंधन में नहीं फँसता ।

४.२३ आसक्ति से मुक्त तथा चेतना को प्रज्ञा में स्थित रखकर, अकर्त्ता–भाव में किया गया कार्य पूर्णरूपेण लय को प्राप्त होता है अर्थात् उससे किसी तरह का मानसिक अवशेष या अवसाद शेष नहीं रहता । इससे कार्य–कारण चक्र भी उत्पन्न नहीं होता।

४.४१ जिसने अहंकार की गतिविधि को योग के माध्यम से त्याग दिया है जिसका संशय प्रत्यक्षबोध द्वारा न हो चुका है और जो अस्तित्व के साथ लय में होता है, वह कर्म के बंधन से मुक्त होता है ।

५.२७ बाहरी संपर्कों को छोड़कर और दृष्टि को भ्रूमध्य में स्थित कर अन्तःश्वसन और उच्छ्वसन (बहिर्श्वसन) को समान करके अर्थात् उच्छ्वसन द्वारा अन्तःश्वसन को निष्प्रभावी करता हुआ नासाछिद्रों में विचरण करो (क्रिया प्राणायाम)।

६.१३ शरीर, सिर और गर्दन को सीधा अचल और स्थिर रखो । अन्य किसी दिशा में न देखता हुआ नासिका के किसी एक अग्रान्त छोर पर दृष्टि जमाकर रखो । (निरावलम्ब ध्यान और अजपाजप अर्थात् छोटी क्रिया एक और दो) ।

५.११ योगीगण वासना का त्यागकर केवल शरीर, अवधान, बुद्धि तथा इन्द्रियों (तन्मात्राओं) से चेतना के उपादानों के शुद्धीकरण हेतु क्रिया करते हैं ।

६. संयुक्त होना

६.८ जो संतु है, ज्ञात एवं ज्ञान (अवधारणा एवं प्रत्यक्षबोध) के साथ समन्वय में है, जो सत् (शून्यता) में स्थापित है और जो वासना रहित ऐन्द्रिक प्रत्यक्षबोध में है और जिसके लिए ढेला, पत्थर एवं स्वर्ण एक समान हैं, वह परम–चैतन्य से युक्त है ।

५.६ योग (चेतना में कोई विखण्डन नहीं) के बिना संन्यास को प्राप्त करना वस्तुः कठिन हैं । जो मुनि पूर्णता के साथ लय में है, उसके लिए परम की प्राप्ति शीघ्र हो जाती है ।

५.३ वास्तविक संन्यास का अर्थ है–शत्रुता, संग्रह, द्वैत, विभाजन और अवधारणामूलक परस्पर विपरीत युग्मों के प्रति उपलब्ध न होना और तभी समस्त बंधनों से सहज और प्रयत्नरहित मुक्ति सम्भव है।

५.८ जो सचेतनता में है वह जानता है कि देखते हुए, सुनते हुए, स्पर्श करते हुए, सूँघते हुए, भोजन करते हुए, विचरतेहुए, सोते हुए, श्वास लेते हुए भी समस्त कार्य स्वतः होते हैं, ''मैं'' उनका कर्त्ता नहीं होता ।

५.६ व्यक्ति को तब बोध हो जाता है कि बोलते हुए, त्यागते हुए, ग्रहण करते हुए, आँखों को खोलते एवं बन्द करते हुए भी, इन्द्रियाँ मात्र वही कार्य करती हैं जिनके लिए वे अभिप्रेत हैं और इस बोध की अवस्था में इनका मानसिक विकल्पों द्वारा वासना में परिवर्तन स्वतः रुक जाता है ।

५.७ पूर्ण चेतना से युक्त व्यक्ति का चित्त पूर्वाग्रहों एवं मिथ्याभिमान के प्रदूषण से मुक्त होता है, वह शांत एवं विनम्र होता है, उसकी वासना समाप्त हो जाती है, उसका होना (अस्तित्व) सभी जीवों के साथ पूर्ण सामन्जस्य में होना होता है। इस तरह वह अपने कर्मों से दूषित नहीं होता ।

६.२६ जो अस्तित्व के साथ लय में होता है, वह सभी जीवों में सर्वव्यापक चैतन्य को और प्रत्येक जीव को इसी चैतन्य में स्थित देखता है। वह सबको सर्वदा एकात्मरूप में देखता है ।

६.२२ जिसकी चेतना ''अन्य'' का निर्माण नहीं करती वह भगवत्ता के निकट है । ऐसा व्यक्ति निरन्तर युक्त होता है तथा चैतन्य और उसकी ऊर्जा (चिति–शक्ति) उसकी देखभाल करती है। यह चिति–शक्ति व्यक्ति की कमी को पूरा करना सुनिश्चित करती है तथा जो उसके पास है उसका संरक्षण भी करती है ।

७. योग तत्व

५.५ जो स्थान सांख्य (क्रिया योग का स्वाध्याय) द्वारा प्राप्त किया जाता है, उसे योग (क्रियायोग का तप) द्वारा भी प्राप्त किया जाता है । सांख्य और योग एक ही है । जो इसे देख पाता है, वही वस्तुतः देखता है ।

३.३४ अवधारणामूलक विपरीत–युग्मों, यथा–आसक्ति एवं विरक्ति का त्यागकर (अर्थात् वासना में नहीं फँसकर) इन्द्रियों को स्वाभाविक कार्य (जिसके लिए वे अभिप्रेत हैं) करने दें । व्यक्ति को विपरीत–युग्मों के गलियारे या मानसिक द्वैत में फँसने के प्रति सावधान रहना चाहिए क्योंकि यह वस्तुतः शत्रु है ।

३.३५ व्यक्ति का सहजावस्था में होना, फूल की तरह खिलना, स्वतंत्र होना एवं सर्जनात्मक होना श्रेयस होता है हालाँकि उसे अकुशल एवं अयोग्य समझा जा सकता है । इसके विपरीत, बनना, अनुसरण करना, अनुकरण करना, किसी के अनुरूप होना श्रेयस नहीं है यद्यपि कार्य में सफलता मिल सकती है । सहजावस्था में मर जाना अच्छा है क्योंकि अनुकरण एवं बनावटी व्यक्तित्व (अहं–केन्द्र) अत्यन्त भयानक होता है ।

२.४८ मानसिक निवेशों का त्याग कर सामंजस्य (योग) की अवस्था में कार्य करें । सफलता एवं असफलता में तटस्थ रहें क्योंकि समत्व ही योग है ।

२.५२ जब विवेक (प्रज्ञा) भ्रांति (मन) के आवरण को पार कर जाता है, तब व्यक्ति उत्तेजित करने वाली बातों (उधारी ज्ञान) जिसे या तो वह सुन चुका होता है या आध्यात्मिक मंडी में अभी सुनना शेष रहता है, से ऊब जाता है, तब वह इनसे परे निर्मन और अज्ञेय के आयाम की ओर, चैतन्य और बोध की ओर, करुणा और समझदारी की ओर, दिव्यता और सत्यता की ओर गति करता है।

२.५३ जब विचार समत्व में होता है और निश्चल होता है, तब व्यक्ति सभी वैदिक सिद्धांतों, उनके मतों एवं कमकांडों का त्याग कर, परम समझदारी की ऊर्जा में स्थित हो जाता है ।

२.५० प्रज्ञा में स्थित रहो, कर्म और बोध में सभी प्रकार के वर्गीकरण का त्याग करो और इस तरह योग को उपलब्ध होओ क्योंक कर्म में परम कौशल ही योग है ।

६.४ जब व्यक्ति अनुभवों या मन की गतिविधियों में नहीं फँसता (अर्थात् जब व्यक्ति प्रयोजन रहित शुद्ध कर्म और विकल्परहित बोध को उपलब्ध होता है) और वह सभी आकांक्षाओं एवं भ्रांतियों से मुक्त होता है, तब वह योगारूढ़ स्थिति को प्राप्त कहा जाता है ।